नवांकुर

२ अक्टूबर १६८६
गाँधी जयन्ती
क अवसर पर
प्रकाशित

नवाकुर

सम्पादक
शकर माहेश्वरी



मुद्रक भागचन्द सुराना
सुराना प्रिन्टिग वर्क्स
२०५, रवीन्द्र सरणी,
कलकत्ता-७००००७
दूरभाप ३६-४३६३

प्रकाशक
स्वर समवेत
६, तनसुक लेन,
कलकत्ता-७०००७०

मूल्य
बीस रुपये

NAVANKUR
Edited By Shankar Maheshwari

सभावना

जिस प्रकार देव मन्दिर में 'समभाव से नृप देत छुद्रा और रस वराटिका' चढ़ा करती है उसी तरह साहित्य के मन्दिर में प्रतिष्ठित रचनाकारों के साथ नये कवियों के उपहार भी चढ़ते हैं। नवोदित कवियों की रचना को पढ़ने-गुनने का अपना आनन्द है। यह वैसा ही होता है जैसे वीणा वादक द्वारा तार पर उँगली का पहला आघात होने पर प्रथम स्वर फूटने से होता है। उस स्वर से यद्यपि राग के विस्तार का पता नहीं चलता पर श्रोता देहली को पार कर संगीत के संसार में प्रवेश कर जाता है।

नवांकुर में सकलित कवि नये हैं। इनसे दक्ष कवियों जैसी रचना चातुरी, अलंकारों का समारोह, शब्दों का लाघव इत्यादि बातों की अपेक्षा नहीं की जा सकती पर इनके मानस से सहज स्फूर्त भावों में वही मिठास है जैसी हमें बालक की तोतली बोली में मिलती है। यह मिठास सिर्फ तोतली बोली से ही नहीं प्रकट होती, उसके पीछे बालक के निर्मल अन्तःकरण का प्रकाश रहता है।

प्रस्तुत पुस्तक में स्थान की सीमा के अनुसार ही कवियों की रचनाएँ ली जा सकी हैं। इसलिए यह दावा नहीं किया जा सकता कि सकलित रचनाएँ इन कवियों का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व करती हैं तथापि इन थोड़ी सी रचनाओं से भी जो तथ्य सामने आते हैं वे सुखद हैं। पहली बात यह कि सभी कवियों की रचनाएँ अपनी स्वकीय भगिमा का परिचय देती हैं। यह बात कदाचित् इसलिए सभव हुई कि इन कवियों ने दुराग्रही प्रचारकों की बातों में न आकर रचना के लिए अपनी अनुभूति को ही आधार बनाया। अन्यथा सभी की रचनाओं में एकरूपता का खतरा सभव था। यह एक आश्वासन है।

दूसरी बात यह कि अपनी-अपनी सीमा में ये कवि अपने समय के प्रति जागरूक हैं। मनुष्य ने मनुष्य के जीवन को जो विडम्बनापूर्ण बनाया है, जीवन में जो विसंगति और विषमता फैली हुई है, राजनीतिकों की कथनी और करनी में जो अन्तर है उसे ये कवि देख-समझ रहे हैं। फलतः इनकी वाणी में कहीं व्यंग है तो कहीं आक्रोश। इससे उबरने के लिए—मुक्ति के लिए न केवल इनमें ललक है बल्कि उसकी प्राप्ति के लिए संघर्ष करने का युवजनोचित उत्साह भी है।

आज का जीवन विषम से विषमतर होता जा रहा है। विश्व के स्तर पर

महाशक्तियों में प्रलयकारक आयुधों की होड़ लगी है। आम आदमी तनाव ग्रस्त है। उसकी सारी शक्ति आर्थिक संकट से जूझने में लगी हुई है। जीवन की सुख-शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है, इस बात को सोचने तक का उसके पास अवकाश नहीं है। ऐसी जटिल परिस्थिति में भी ये कवि आशा छोड़ नहीं बैठे हैं।

आज के कुछ बुद्धिवादी प्रेम और रोमांस के नाम से भड़कते हैं। व्यक्त जीवन को आँखों से न देख कर केवल किताबों में उलझे लोगों से और क्या आशा की जा सकती है। मनुष्य को जन्म से प्राप्त इस चिर कालीन संस्कार को वह इनके भड़कने से कैसे छोड़ दे। यह हर्ष की बात है कि मिथ्या आडम्बर की आँधी में इन कवियों ने प्रेम की ज्योति को मन्द नहीं होने दिया जो मनुष्य को मनुष्य की पहचान कराती है।

वर्तमान सभ्यता को शहरी सभ्यता कहा जा सकता है। इस सभ्यता ने गाँव कसबों तक अपना साम्राज्य विस्तार किया है। जिन्हें विवश होकर गाँवों में रहना पड़ रहा है उन्हें भी इस सभ्यता की ललक घुलाये जा रही है। यह शहरी सभ्यता मनुष्य का प्रकृति से सम्बन्ध विच्छेद करने पर तुली हुई है। आजके कुछ दार्शनिकों का कहना है कि मनुष्य ने प्रकृति से सम्बन्ध काट कर अपने जीवन को अनेक प्रकार से दुखी बना लिया है। ऐसी परिस्थिति में प्रकृति का आकर्षण जीवन के प्रति इन कवियों के अनुराग का द्योतक कहा जा सकता है।

इस सामान्य चर्चा के बाद इनकी रचनाओं की कुछ बानगी ली जाय।

इन्दु जोशी—स्वार्थ प्रेरित कुटिल अभिसन्धियों से संकट में पड़े अस्तित्व की मायूस आँखें जब शरण को ताकती हैं तब इन्दु भरोसा देती है—**'अंगारों के बुझने से पहले। मैं आँच दूँगी। आग बन कर।'**

जीवन की आशा-आकांक्षा रेत में परिणत हो रही है। इस स्थिति को सुधारने के लिए जो नियन्ता बना है वह बदलने की बात तो करता है लेकिन उसके उपाय का कुछ पता नहीं। कवयित्री जानना चाहती है—**'कौन से उपाय रचे हैं तुमने/शाप मोचन के लिए?'**

यदि उत्साह है तो साधन की न्यूनता से भी बहुत कुछ किया जा सकता है—**'मिट्टी का ठीकरा भी सार्थक है'**—उससे—**'किया जा सकता है अन्याय का प्रतिवाद।'**

प्रकृति अपने बँधे नियम से चलती है। उसमें इधर से उधर होने की

गुंजाइश नहीं। इस एक रूप नियमबद्धता से व्याकुल होकर इन्दु पूछती है—'क्या इन सबसे परे कुछ भी नहीं है मैं ?'

जब प्यार की तड़पती पुकार आती है तो—'उठ पड़ते हैं कदम उसी तरफ/जहाँ जीवित रहती है कोई प्रतीक्षा।'

ज्योति महताणी—जीवन में ऐसी भाग-दौड़ मची है कि हर चीज अपना अर्थ खो रही है। ऐसे में ज्योति मेहताणी आश्वासन खोज लाती है—'तुम्हारा सुर/पता नहीं कहाँ से आकर/मेरे कंधे पर अपना हाथ रख देता है।'

वासना व आवेश को भले ही कोई प्रेम समझने की गलती करे पर उसका आकर्षण शीघ्र विकर्षण में बदल जाता है। लेकिन भ्रम से वह फिर फिर उसी आकर्षण विकर्षण की गलियों में भटकता रहता है। उसका भ्रम कैसे टूटता है—'यह भूल गई थी कि घर सिर्फ सपनों से नहीं/दीवारों से बनता है यथार्थ की पक्की दीवारों से।'

कभी न रुकने वाले निष्ठुर काल को भी प्रेम कैसे भुलावा देता है, ज्योति बताती है—'तुम्हारी याद मेरे ख्यालों पर छा जाती है/तो वह पल वहीं ठहर जाता है।'

पॉली नन्दी—सचमुच ऐसे खिलौने बीजों को देखती है जो बच्चों का भाग्य छीन कर उन्हें विकसित ही नहीं होने देते। यौवन तो क्या, वे तो जैसे बूढ़े होकर ही पैदा होते हैं। और जब बंगला कवि सुकान्त की इस उक्ति पर उसका ध्यान जाता है कि—'अठारह वर्ष का यौवन नहीं मानता किसी बाधा को'—तो उस कवि की उक्ति पर विस्मय होता है। वह पूछती है—'सच कहो क्या पाया था तुमने वह यौवन ?' शोषकों के प्रति आक्रोश और प्रतिकार के लिए वह बाधाओं को तोड़ने वाले यौवन को देखने की आकांक्षा रखती है।

आज की स्वाभिमानिनी नारी की एक झलक पॉली के शब्दों में यों व्यक्त हुई है—'मैं हूँ सागर के खारेपन में/प्यास बुझाती नहीं/प्यास की हद तक प्यासा बनाती/मैं हूँ लहर जिसकी बल खाती उठान/तुम्हें मेरे होने का अहसास दिलायेगी।' यह नारी स्वयं को समुद्र के रूप में उपस्थित करती है जो नदियों का आश्रय है। इस आश्रय का पात्र वही हो सकता है जो उसके प्रचण्ड आघात को सह सके—'मेरे प्रथम आलिंगन को अगर झेल सको तो कहना—हम एक दूसरे से जी भर कर प्रेम करेंगे।'

पॉली जहाँ नारी के दुर्धर्ष रूप को दिखाती है वहीं वह पुरुष को भी व्यक्तित्व सम्पन्न देखना चाहती है जो नारी को अनुकूल बना सके—'जब भी

तुम्हारी उफनती लहरें मुझे भिगो जाती हैं/तब तब मेरे तन मन के सितार के तारों में राग विहाग बजने लगता है।' यानि—'तुम्हारे अन्दर एक आग है/तभी तो तुम इतने उन्द्र्गल हो जाते हो/तुम्हारी भीषण आग/न जाने क्यों/मुझे शान्त और शीतल बना देती है।'

कवयित्री पुरुष के 'ज्वलनशील गतिमय पतंग' रूप से भी परिचित है। वह कहती है—'पर जब भी मैंने डूबना चाहा तुम में/तुम मुझे किनारे पर उछाल देते हो अपनी खारी वितृष्णा के साथ।'

पुरुष की उपेक्षा के बावजूद नारी उसके प्रति समर्पित होती है, उसकी स्मृति को संजोये रखती है—'तुम्हारी फेनिल लहरें/बार-बार मेरे पास आती हैं/मुझे भिगोती हैं।'

पूर्णेन्दु ठाकौर—मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह जब समाज से कटता है तो कमजोर हो जाता है। पूर्णेन्दु कहता है—'मेरे पैर बहुत नाजुक हो गये'—कारण—'समाज से टकरा गया था।' फिर जब वह समाज से नाता जोड़ लेता है तो उसमें शक्ति का संचार होता है—'मेरे पैर बिल्कुल ठीक हो गये आखिर क्या अजूबा हुआ देखा मेरे पैर वापस समाज की तरफ खुद ब खुद मुड़ गये थे।'

कर्णधार समय को (लोगों की दशा को) सुधारने की डींग तो हाँकते हैं पर वस्तुतः उनका उद्देश्य सिर्फ अपनी शक्ति का प्रदर्शन होता है। पूर्णेन्दु कहता है—'पर इस मेले में समय के सिवा सब कुछ बिकता है।'

दिन प्रति दिन बिगड़ती दशा पर कवि के मनोभाव यों प्रकट हुए हैं—'मेरे 'मैं' को सूली पर चढ़ाने की बात चली तो मैंने कहा था कि जिस 'मैं' को तुम बना नहीं सकते उसे मारने का क्या हक है तुम्हें।' जब वही मैं परिस्थिति के गैस चैम्बर का शिकार हुआ तो—'मुझे उस दिन की याद आई/कैसा सुअवसर मेरे 'मैं' ने खो दिया था।'

मानव शुभ्र—कवि मानव ने ध्वनि प्रदूषण को एक नये अन्दाज में रखा है। ये आवाजें जीवन को हर तरफ से घेर रही हैं—'अन्दर बाहर जीवन को टटोलती ये आवाजें मानव के जीवन को मूक कर देतीं ये आवाजें अपने को भूलकर/दूसरों पर आवाज उठातीं/निर्णय सुनातीं—आवाजें।' मानव इन आवाजों की एक रूपाकृति बनाता है—'महासागर में लम्बे हाथ/पड़ोसी के घर-आँगन में झाँक सकने वाली नजरें।' जब किसी के कराहने या प्रतिवाद करने से ये आवाजें कुछ देर के लिए मूक हो जाती हैं तब भी इनकी भयंकरता बनी रहती है, सिर्फ रूप

बदलता है—'तब सांय-सांय करता सन्नाटा।' क्षणिक विराम की भ्रान्ति के बाद ये आवाजें दुगने वेग से प्रगट होती हैं—मृत्यु की आवाज के रूप में—'अब हरी बोल, बोलो हरी की आवाजें।' लोगों के प्राण लेकर भी इन आवाजों की कभी न मिटने वाली क्षुधा ज्यों की त्यों बनी हुई है। ये—'फिर से किसी दूसरे को मूक करने में जुट जाती/अनेक ये आवाजें।'

सभ्य समाज की समझदारी पर कवि की एक चोट इस प्रकार है—जब किसी रचनाकार की सर्जनात्मक ऊर्जा समाप्त हो जाती है और वह मृत्यु के मुख में जाने को है तब समाज को होश आता है उसके सम्मान का—उसे पुरस्कार मिला, तालियाँ बजीं—'मगर वह कब्र में/आस भरी आँखें मूँदे पड़ा है।'

राजेन्द्र कानूनगो—स्वार्थ के वशीभूत होकर लोग किस धरातल पर उतर जाते हैं इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है, महात्मा गाँधी के नाम का उपयोग। जिनका गाँधी से दूर का सम्बन्ध है वे अपने मतलब के लिए गाँधी का नाम लिये जा रहे हैं। जिनके कार्यकलाप गाँधी की नीतियों के सर्वथा प्रतिकूल हैं वे भी गाँधी के नाम को भुना रहे हैं। महात्मा गाँधी के नाम से लोगों के मन में पवित्र भावना का स्फुरण होता है। लेकिन उसी नाम का दुरुपयोग देखकर लोग व्यथित है। जन जन की इस व्यथा को राजेन्द्रकानूनगो तीखे व्यंग की भाषा में प्रकट करता है—'बापू, अच्छा हुआ, तुम मर गये/ जिन्दा रहते तो रोज मरते।'

भूख आदमी से क्या-क्या नहीं करवा लेती। एक अस्वस्थ और दुर्बल रिक्शेवाला जब सवारी लेने को तैयार होता है तो कवि उससे पूछता है—'खींच पाओगे?' इस पर रिक्शेवाला जवाब देता है—'रिक्शा मैं कहाँ खींचता हूँ बाबूजी, मेरी भूख खींचती है।'

आज की आपा धापी में आदमी इतना व्यक्ति केन्द्रित हो गया है कि उसे प्यार के संकेतों को भी समझने का अवकाश नहीं। इस कारण क्षुब्ध है कवि—'किसे फुरसत है/सभी व्यस्त हैं/अपने-अपने घरोंदे बनाने में।'

रीता मेहरोत्रा—नियामकों के आश्वासन को लोग स्वप्न की तरह सँजोये रहे। पर जीवन के कष्टों को घटते न देख वे कब तक बातों में भूले रहें। उधर आत्मश्लाघा में विभोर नियामकगण अपनी करनी से हुई प्रगति के दावे पर दावे किये जा रहे हैं। रीता स्पष्ट शब्दों में कहती है—'किसी भी दिशा में बदला नहीं मौसम पतझड़ की सूनी टहनी सा खड़ा/रस-गन्ध हीन जीवन।'

आदमी की अस्तित्व रक्षा हो, तब न यह कुछ दूर की बातें सोच समझ सकता है। जब उसकी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं होती तो उसकी बुद्धि कुंठित हो जाती है। सन्तों ने भी इस बात को महसूस किया है। तभी वे कहते हैं—'भूखे भजन न होहिं।' आदमी को ऐसी परिस्थिति में डाल दिया जाता है तो वह अपना लक्ष्य तक भूल जाता है। रीता कहती है—'**लक्ष्य चौरास्ते पर खड़ा एक अदद आदमी को खोज रहा है।**'

संत्रास वाली व्यवस्था के कष्टों को चुपचाप सहनेवालों को कवयित्री उद्बुद्ध करती है—'**आखिर कब तक यूँ ही बर्दाश्त करते रहोगे। बर्फ बने कब तक रिसते रहोगे—बूँद-बूँद ?**'

सजय बिन्नाणी—जीवन में अनेक दुःख हैं, कष्ट हैं, मृत्यु तक के खतरे हैं लेकिन इन बाधाओं के होते हुए भी आदमी की जिजीविषा पराभूत नहीं होती। वह मृत्यु को प्राप्त होकर भी पुनः लौट आना चाहता है। सजय इस मनोभाव को या भाषा देता है—'**जिन्दगी, मैं तुम्हें मर मर कर पाना चाहता हूँ।**'

लोग अपने स्वार्थ के लिए, मनोरंजन के लिए दूसरों को गुलाम बनाते हैं। साथ रहने से इन गुलामों में स्वामी और दास के फर्क को परखने की तुलनात्मक दृष्टि विकसित होती है और तब उनमें स्वतंत्रता के मनोभाव प्रकट होते हैं। कवि एक तोते को प्रतीक बनाकर कहता है कि स्वामीपुत्र के साथ रहते हुए—'**तोता सस्कारित होता गया**'—और यों—'**अब बन्धन और आजादी का फर्क समझने लगा था तोता।**'

प्रेमियों को सयोग की दशा में देख कर विरही जनों की दुःखानुभूति तीव्र हो जाती है। वे संयोगियों को अपने दुःख का कारण समझ कर उन्हें उलाहना देने लगते हैं। सुन्दरियों के चरण-स्पर्श से खिले अशोक को कवि कहता है—'वे (विरहीजन) **दर्द पीते हैं/और तुम निर्विकार खड़े रहते हो और यों सच ही तुम अशोक कहलाते हो।**'

कवि सजय द्वारा व्यक्त आत्म विश्वास की एक झलक—'**पिघल जायेगा तुम्हारा अहम्/जब मैं स्वर साधकर/तुम्हारे/भीतर का राग गाऊँगा।**'

ऊपर इन कवियों की रचनाओं को यत्र-तत्र देखने का प्रयास किया गया। इससे इनके विषय वैविध्य और तेवर का कुछ आभास मिलता है। इनके विषय जीवन के सामयिक और सर्वकालिक, दोनों छोरों को छूते हैं। यह बात इनकी दृष्टि की व्यापकता की परिचायक है। इनके तेवर में तेजस्विता है जो रचना धर्मिता के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

आशा है, सुधी और सहृदय जन इनका स्वागत करेंगे और इन्हें प्रोत्साहन देंगे।

—शंकर माहेश्वरी

इन्दु जोशी

इन्दु जोशी

जन्म — २ अक्टूबर १९६०

सम्प्रति शोधकार्य — छायावादोत्तर हिन्दी काव्य में परम्परा और प्रयोग

सम्पर्क — ११ सर हरिराम गोयनका स्ट्रीट
कलकत्ता-७००००७

भूमिका

ठंडे पड तो रहे हैं अंगारे
पर बुझे नहीं।
ताकती है मायूस आँखें।

अंगारों के बुझने से पहले
मैं आँच दूँगी आग बनकर। ०

ओ मेरी नियति

ओ मेरी नियति।
यह भी तो मुझे पता नहीं
कौन से उपाय रचे हैं तुमने शाप-मोचन के लिये?

मुझमें बसे स्वप्न, इच्छाएँ, उत्साह का वेग
परिणत हो रह हैं रेत में
एक अभिशापित परिभाषा बनता जा रहा है मेरा इतिहास
मेरे नियन्ता।
क्या वह परिभाषा कभी बदली न जाएगी? ०

प्यार

प्यार एक आवाज़ है
जो ढलती है पुकार में।

उठ पड़ते हैं
क़दम उसी तरफ
जहाँ जीवित रहती है कोई प्रतीक्षा। ०

यह

यह जो सुख
तुम तक ले जाता है मेरा यथार्थ है
और जो जन्म लेता है तुम्हारे अनिश्चय में
महज़ तुम्हारी कल्पना।
बाँध लो मुझे
अनागत की नाव यथार्थ पर होती है। ●

जग

कल रात एक जंग
मेरे चिन्तन से संचालित होकर
छिड़ी रही।
रात्रि के दूसरे प्रहर
और भी तीव्र हो गई।
अतीत खंडहर है,
वर्तमान खण्डहर की मिट्टी से
भविष्य निर्मित करने को दृढ़ प्रतिज्ञ है। ०

अंतिम पंक्ति

आकाश अब भी ज्यों का त्यों है
नहीं आई समुद्र की लहरें
अपनी सीमा के बाहर
ठीक ठीक रुका सूर्य
अपनी यात्रा के विराम चिन्ह पर
चाँद वैसे ही कभी घटा कभी बढ़ा
ऋतुएँ क्रमसे आई और गई
मैं होती रही प्रभावित इन सभी से
क्या इन सबसे परे
कुछ भी नहीं हूँ मैं? ०

आत्म-स्वीकृति

रोशनी मेरी दृष्टि है
शक्ति सञ्चरित करती आग है
एक कशिश
भीतरी यथार्थ को
बाह्य यथार्थ में
पर्यवसित करने में
मर्यादित रेखाओं से डरती
फिर भी अपने भीतर
आग की तपिश को
महसूस करती है। ०

ठीकरा

मिट्टी का ठीकरा भी
सार्थक है एक पहचान के साथ

रूपहीन, रंगहीन, गन्ध से परे
मिट्टी के ठीकरे से
बनाया जा सकता है निशाना
किया जा सकता है अन्याय का प्रतिवाद। ०

वक्त

वह समय याद है मुझे
सूचना दी थी
वक्त ने कुंडी खटखटाकर आने की।

जाने से पहले
वह छोड़ गया था अपनी निशानी मेरे चेहरे पर।
जड़वत् हो गयी थी मैं
काश! अपनी मुट्ठी में कैद कर सकती उसे। ०

तुम बार-बार आते हो

तुम बार-बार आते हो मेरे पास
पर पाओगे क्या, नहीं जानती मैं

आशा और भविष्य का एक रिश्ता है
जो मोड़ देता है स्वप्न का सड़क की तरफ़
और तुम जानते हो कि सड़क कितनी खतरनाक होती है
स्वप्न बेञटके उस पर दौड़ नहीं लगा सकते ! ०

हवा

क्या मैं तुम्हारे लिये हवा की तरह हूँ
कि होऊँ मैं
तो लहलहा उठो पेड़ पौधों की तरह
और न होने पर
निस्पन्द हो जाओ मुरझाइ पत्तियों की तरह
क्या तुम मुझे वैसे ही जीते हो
जैसे हवा बिना जीना आसान नहीं होता ।

निर्बन्ध बहती अन्दृश्य सत्ता
कब बँधती है मुट्ठी में
साँस से ग्रहण की जाती है
बिना किसी बन्धन के
उसके होने को महसूस किया जाता है ! ०

मौसम की पहचान

एक बार फिर तूफान
आमत्रण देता है
मुझमें से गुजरने को

भूली नही हूँ
तूफानों के गुजरने के पश्चात
बची बर्बादी की त्रासदी
फिर भी मैं प्रस्तुत हूँ
इन व्यतीत सघर्षों के चिन्तन के बाद
या तो भविष्य सार्थक हो उठेगा
या सिर्फ एक हादसा होगा।

जैसे पत्तों से रहित होता जाता है पेड
समझ नही पाता कारण
कि पत्ते आयेंगे या नहीं
वैसे म भी नहीं जानती
मौसम के आने से
कब, कौन, कहाँ, कैसे
सार्थक हो जाता है
अपनी पहचान के साथ।

जानती नही
मौसम यदि आयेगा भी तो होगा कैसा। ०

ज्योति मेहताणी

ज्योति मेहताणी

जन्म — ७ जुलाई १९६१

सम्प्रति — 'मोहन राकेश का कथा साहित्य
वस्तु और शैली'
पर शोधकार्य

सम्पर्क — ३३/१ सदर्न स्कूल रोड
कलकत्ता-७०००२५

तुम नहीं जानते शायद

तुम नहीं जानते शायद
आज भी जब
चुपके से
तुम्हारी याद आकर
मेरे ख्यालों पर छा जाती है तो
वह पल
वहीं ठहर जाता है

लगता है मानो
मैं हवाओं में उड रही हूँ,
पर्तें दर-पर्तें
आसमान की ऊँचाइयाँ छू रही हूँ
बस हर जगह

मैं हूँ, सिर्फ मैं,
पास जमा हुई भीड,
राह में फब्तियाँ कसते
मनचले लोग
सबसे बेखबर
सिर्फ मैं होती हूँ उस वक्त,
तुममें, तुमसे। ०

इस नीले सागर के तट पर

उस दिन
उँगली से मैंने एक सपना लिखा था
तुम्हारे और अपने नाम के बीच।

अभी इरादा बना ही था कि
अचानक
एक तेज लहर आयी और बहा ले गई
मेरी सम्पूर्ण इच्छाएँ
अब समूच जिस्म में उसका अहसास
कचोटने लगा है,
और जब भी यह उँगली
कुछ बनाने को उठती है
तो जाने क्यूँ
कहीं
कुछ टूट सा जाता है
और मैं बिखर रह जाती हूँ। ०

कितना आसान है

कितना आसान है
दूसरों को कुचलते चले जाना
कितना सहज होता है
किसी को टीसते चले जाना
दोस्ती की आड में
निरन्तर
दुश्मनी निवाहे जाना,
रिश्तों का नाम देकर
बेगाना सा रहना
किन्तु
कितना कठिन होता है
बर्दाश्त करना
यही सब,
जब स्वय पर घटित होता है। ०

कितना अतर है आज

कितना अंतर है आज
तुममें और मुझमें
तुम जो,
आँधी से भी नहीं डरते
तूफान भी तुम्हारी
बिखरी चीजें समेट देता है
और म, जो
हवा के झोंके से भी काँप जाती हूँ
वसन्त की हल्की बयार भी
मेरा सम्पूर्ण जीवन
अस्त व्यस्त कर देती है। ०

तुम

तुम
संगीत में डूबी स्मृति हो,
जो अनायास काँप जाती है
मन के गहन बादलों के मध्य ।

तुम
तनहाई से निकला एक सुर हो
जिसे मैंने, सुना ही नहीं,
महसूस भी किया है अपने अंदर ।

बस ट्राम पर झूलते हुए
दफ्तर में फाइलों के बीच डूबे
घर बाहर
जहाँ हर चीज अपना
अर्थ खोती जा रही हो
रक्त और आतंक के बीच ।

तुम्हारा सुर पता नहीं
कहाँ से आकर
मेरे कंधे पर अपना हाथ रख देता है
और फिर
एक पल के लिए ही सही
जीवन में एक नया उत्साह भर देता है । ०

जाने किस अजानित प्रदेश से

जाने किस अजानित प्रदेश से
आकर
मेरे हृदय में तुमने
देखते ही देखते
पक्का घर बना लिया था,
और इस वीरान मंदिर में
अजस्र गीत जाग उठे थे

मग्न मैं घोंसले को तिनका-तिनका
सजाने लगी
गीत गाने लगी

लेकिन
अचानक यह क्या हो गया कि
अब घुटन सी लगने लगी है
घुटन की इस पाषाण कैद से
मुक्त होने के लिए भटकती रही
यहाँ वहाँ,
यह भूल गई थी
कि घर सिर्फ
सपनों से नहीं
दीवारों से बनता है
यथार्थ की पक्की दीवारों से ! ०

पॉली नन्दी

पॉली नन्दी

जन्म १० अक्तूबर १९६२

शिक्षा हिन्दी स्नातकोत्तर, द्वितीय वर्ष (अध्ययनरत)

रुचि संगीत, साहित्य एवं जन-सम्पर्क ।

सम्पर्क ४८२/१, सरक्यूलर रोड
शिवपुर, हावड़ा २

युवा कवि सुकान्त के प्रति

तुमने कहा था
अट्ठारह वर्ष का यौवन,
नही मानता किसी भी बाधा को।
सच कहो
पाया था क्या तुमने वह यौवन
जो तोड़ना चाहता था बाधाओं को ?

मगर हम !
हमें तो नहीं मिलता वह अट्ठारह वर्ष का यौवन।
हम पैदा होते हैं—
बूढे होकर
जन्म से ही देखा है
शिशुओं के मुख का ग्रास
छीनकर निगलते हुए
सूखी बजर धरती से दुर्भिक्ष के
फैलते हुए घिनौने कीड़ों को।

देखा है
रोटी के बासी टुकड़ों के लिये
माँ के हाथों से बच्चे के
घुटते हुये प्राण।

कवि !
बताओ तो
कहाँ है वह यौवन का अहसास ? ○

नीलापन छा रहा है

नीलापन छा रहा है
मेरी शिराओं, उप-शिराओं में।

पर ये नीलिमा
ऊपर फैले उस आकाश की नहीं
जिसे तुम्हारे बौने हाथ छू नहीं पाते
ये नीलापन ठाठें मारता है
छोर विहीन सागर में।

आजकल प्राय: लोग मेरा पता पूछते हैं,
बहुत मन होता है उनसे कहूँ
मुझे पाओगे सागर की गहराई में
डूबो
उठा लो रत्न जितने चाहो।

मैं हूँ सागर के खारेपन में
प्यास बुझाती नहीं,
प्यास की हद तक प्यासा बनाती।

मैं हूँ—लहर
जिसकी बलखाती उठान
तुम्हें मेरे होने का अहसास दिलायेगी।

मैं विश्वस्त आश्रय
तुम्हारे जैसी हजारों नदियों की

कभी आओ न मेरे तट पर
किसी उदास श्यामल संध्या में
अग्निगर्भित मेरी आत्मा का
उल्लासमय क्रन्दन सुनना
मेरे प्रथम आलिंगन का
अगर झेल सको तो कहना—
हम दोनों एक-दूसरे से
जी भरकर प्रेम करेंगे! ०

पूर्णेन्दु ठाकोर

जुड़ते रिश्ते टूटते नाते

कभी जोड़ा था नींव से इमारत को।
साँसों के हल्के झोंके से
मानवता की ऊँची इमारत अचानक गिर पड़ी
ताज़ा खून से सनी सभ्यता की कच्ची सड़क पर।

सोचा था
जोड़ती चलूँ नातों से खुद को।
ज़िन्दगी की व्यस्त राहों पर
मुड़कर देखा
पीछे थी रिश्तों की झिलमिलाती भीड़ में
टूटते नातों की सिसकती कतार।

चाहा था
ज़िन्दगी को जी भरकर जी लूँ
जीने की चाह से
हर क्षण फिसलता रहा
मृत्यु की लोलुप जिह्वा के चिकने धरातल पर
और अब।
सुन रही हूँ
हवा में गूँजती आशा की आवाज़ को।

गिरी हुई इमारत के मलबों के ढेर से
अपनी डंड वाडी हाथों में थामे
चल पड़ी
एक नये रिश्ते की तलाश में। ०

पूर्णेन्दु ठाकोर

पूर्णेन्दु ठाकोर

जन्म　　२२ फरवरी १९६४, अलीगढ़

शिक्षा　　बी० काम (आनर्स) ए० सी० ए

सम्पर्क　　६१, स्ट्रेण्ड रोड कलकत्ता-७००००६

मेरे पैर

मेरे पैर बहुत नाज़ुक हो गये हैं।
पोलियो का रोगी नहा हूँ
समाज से टकरा गया था
बस इसी से आहत हो गये हैं।

बहुत कमज़ोर
बहुत ही ज़्यादा कमज़ोर हो गये हैं
ऐसा लगता है कि
शरीर का वज़न दुगुना हो गया है।
इतना भारी शरीर है
कि मेरा बैसाखी व्यक्तित्व टूट-टूट जाता है
हर बार नया खरीदने की
क्षमता होती
तो शायद पैर ही नाज़ुक न होते।

बड़ी तकलीफ से चलता हूँ
क्योंकि चलना जिन्दगी है
इसीलिए पैरों से लड़ता हूँ
लेकिन उस दिन,
मेरे पैर बिल्कुल ठीक हो गये
एकदम सही सलामत
मैं पैरों की तरफ देखने लगा
आखिर क्या अजूबा हुआ
पता चला
मेरे अनचाहे सपने
सहसा यथार्थ से जुड़ गये थे
मैंने देखा, मेरे पैर
वापस समाज की तरफ
खुद-ब-खुद मुड़ गये थे। ०

आज़ादी

सड़कों पर आज़ादी के पगचिन्हों का जमघट है,
दरख्तों का वध कर चुका है गुमराह इन्सान,
फलों में विष का
सफ़ाई देता है षड्यन्त्र,
अंकुर निकलने की कोशिश करते रहे,
पीढ़ियों ने कुचल दिया
इन्हीं पगचिन्हों का जमघट है आज सड़कों पर।

सूखी टहनियों में
अब भी लिपटे हैं वे साँप
जिन्हें इन्सान ने
अपने दिल से आज़ाद किया था
और आज़ादी के नारे लगाये थे।

लोगों ने समझा यही सच्चाई है,
जबकि हरिश्चन्द्र
श्मशान में बैठा कफ़न बेच रहा था।

सुबह का भटका शाम को
घर लौट कर नहीं आया,
क्योंकि उसका कोई घर नहीं है।

आज़ादी के बाद भी
इन्सान ने अपने को
बेघरबार कर दिया है
और समय की ईंटों ने
आधारशिला बनने से इन्कार कर दिया है। ०

नव वर्ष

कमरे से मत पूछो मेरा अनुभव
यह सही जवाब देगा
क्योंकि यह आदमी नहीं है।

तुम दर्पण में
मत नज़र आ जाना कहीं,
मेरा अतीत झलकेगा
तो मैं बेघर हो जाऊँगा
अपने ही घर में।

खिड़की मत खोलना
सड़क दिखेगी
तो मैं इन्तज़ार की अनन्त
सड़क में खो जाऊँगा।

दरवाज़े पर दस्तक मत देना,
नहीं तो मैं समझूँगा
तुम नहीं हो
सिर्फ़ तुम्हारा एहसास है।

कैलेण्डर क्या देख रही हो,
वह तो वैसा ही है
जैसा पहले था,
बदला हूँ मैं—मेरा वर्तमान
तुम ही ने तो कभी कहा था
जब कैलेण्डर को देखता आदमी बदलेगा
तब हम नव वर्ष मनायेंगे।

तुम्हें नव वर्ष मुबारक हो। ०

समय

बर्बादी के मलबे पर
शक्ति की नुमाइश लगी है
मगर आदमी यहाँ से
खाली हाथ लौट रहा है

सुना है यह भीड़
अगली पीढ़ी के लिए
समय खरीदने आयी थी,
पर इस मेले में
समय के सिवाय सब कुछ बिकता है। ०

मेरा मैं

उस दिन मेरे 'मैं' को
सूली पर चढ़ाने की बात चली
तो मैंने कहा था कि
जिस 'मैं' को तुम बना नहीं सकते
उसे मारने का क्या हक है तुम्हें

लेकिन आज जब मेरा 'मैं'
परिस्थिति के गैस चेम्बर में
विषैले गैसों का शिकार हुआ
तो मुझे उस दिन की याद आई।

कैसा सुअवसर मेरे 'मैं' ने खो दिया था! ०

आदमी पहुँचे तो वहाँ

समय की रेतीली हवाएँ
बहुत वेग से बहती हैं उस मरुप्रदेश में।

उस प्रदेश में
जहाँ सिर्फ रेत को जीवन मिलता है
उसी जगह आज
मनुष्य जाना चाहता है
हरियाली से ऊब कर
बहुत आशाएँ और मसूबे बाँध कर।

उस जगह जहाँ वह अचेत पड़ा हो
और कौओं का झुंड
उसके शरीर को नोचने झपटे
तो वह चिल्ला कर कह सके
'मैं ज़िन्दा हूँ, मैं ज़िन्दा हूँ'
विश्राम के लिए
नखलिस्तान में बैठा हूँ?

खजूर का पेड़ भले छाया न दे सके
पर वह आदमी को आदमी की
छाया ज़रूर देगा।
देह पर अनेक छाले क्या न पड़ जायें
हर छाला खुल कर बोलेगा ज़रूर
कि हरियाली की कोमलता से
हम आदमी को ज्यादा पसन्द हैं।

ये छाले भी मिट जायेंगे
रेत खुद मलहम बनेगी
पर आदमी पहुँचे तो वहाँ। ०

मानव गुप्त

मानव गुप्त

जन्म कलकत्ता, २६ दिसम्बर १९६७।
शिक्षा छात्र, फिज़ियोलॉजी (ऑनर्स), प्रेसीडेंसी कॉलेज।
विशेष चित्रकला, नाटक (अंग्रेज़ी तथा हिन्दी),
रुचि संगीत, कविता आदि में विशेष रुचि।
सम्पर्क १०५, बलवडियर, कलकत्ता-७०००२७

आवाज़ें

अन्दर, बाहर,
जीवन को टटोलती
ये आवाज़ें,
अनगिनत आवाज़ें ।

चिल्लाती, कराहती
उँगलियाँ उठाती
मानव के जीवन को
मूक कर देतीं
ये आवाज़ें
अनगिनत आवाज़ें
लोगों की आवाज़ें ।

सुबह शाम
अपने पे नहीं
अपने को भूलकर
दूसरों पर आवाज़ उठातीं
निर्णय सुनातीं, बोलती-बताती
आवाज़ें
अनगिनत आवाज़ें
ओफ ! ये आवाज़ें !!

काम पर जाते
काम से आते

सोते जागते, उठते बैठते
सारी गतिविधियों पर नज़रें रहें
ये आवाज़ें
अनगिनत आवाज़ें !

काम करते हुए
क्यों ? कैसे ? कब ? की आवाज़ें ।
काम न करते हुए भी
फिर वही आवाज़ें ।

महासागर से लम्बे हाथ,
पड़ोसी घर-आँगन में झाँक सघन वाली नज़रें
बस !
इसी बुनियाद पर टिकीं
ये आवाज़ें ।

लेकिन पड़ोसी के कराहते ही
मूक हो जातीं ऐसी आवाज़ें ,
तब साँय साँय करता सन्नाटा
और निस्तब्धता को चीरती वह एक
कराहती आवाज़
इन आवाज़ों से पिसकर
हमेशा के लिये मूक हो जाती ।

तब फिर से वही आवाज़ें,
अब "हरी बोल, बोलो हरी" की आवाज़ें
अनगिनत आवाज़ें,
लोगों की आवाज़ें
फिर से किसी दूसरे को मूक
करने में जुट जातीं ।

ओफ़, ये आवाज़ें
अनगिनत आवाज़ें !! ०

पुरस्कार

सफद बाल
अनुभव की झुर्रियाँ
चाबुक मार चुकी हैं
कगार का वृक्ष
ज़िन्दगी भर फ़ूल फल देते
थक गया है

यौवन की याद
पुराने सपना की तरह
धँसी आँखा में बस कर रह गई हैं

इसलिये अब
सभ्यता को खयाल आया, है
इसकी पुरस्कार पाने योग्य
उम्र हो गई है।
जितना बडा पुरस्कार
उतनी बडी उम्र
तभी न जोडी जमगी।

परामर्श शुरू होता है
हमउम्र उम्मीदवार कई हैं,
निर्णय हो गया
मगर
वह कब्र में आस भरी
आँखें मूदे पडा है।

तालियाँ बजा
पुरस्कार मिला
मगर—पॉस्थ्यूमस।

इधर पाने वाले की रूह भटक रही है। ०

क्या हम कविता लिखते हैं ?

अहसास के घेरे में
तनहाई में, अकेले में
यूँ ही, जब कभी
अपने आप से
याद शिकायत होती है
तो कागज़ से बात कर लेते हैं ।

अपनों में, बेगानों में,
बैठे बैठे खो जाते हैं ,
यूँ ही, जब कभी
अपने आप से कशमकश हावी है
तो कागज़ को बहाना बना लेते हैं

क्या इसी से हम
कविता लिखने लगते हैं ? ०

एक पल

रोज़मर्रा की दौड़ में
बस ऐसे ही
एक पल
मुस्कान की लहर छोड़ जाता है ,
यादों की धूमिल परछाइ
किसी स्वप्न की आधारशिला रखती है ,
बस यूँ ही, चलते चलते,
एक पल
कोई खयाल आ जाता है । ०

जुगनू सी आशा

साँय साँय करता मूक सन्नाटा
साथ लगा हुआ, चलता जाता।

पत्तों की सरसराहट में सनसनी पैदा करता
अन्दर के अंगारों को सहलाता
यूँ ही मेरे साथ, मेरा हमराज़ बन चलता जाता।

कहीं दूर जरा सी जुगनू की रोशनी
दिल में हाहाकार मचाती, चमक जाती
पर पलक झपकते ही लोप हो जाती
छोड़ जाती केवल एक झूठी आशा
दहते अरमानों को दे जाती एक दिलासा
कि फिर कभी आऊँगी मैं
कि फिर कभी आऊँगी मैं
तुम्हें सपनों में कहीं दूर ले जाऊँगी मैं
लेकिन फिर किसी शून्य में लोप हो जाती।

मैं पुनः गुमनामी में डूब सा जाता
बिलखता, तड़पता, तरसता रह जाता
परन्तु उस दिलासे को भूल न पाता
उस आशा की नमी को स्वप्न न मान पाता
और इस आशा-निराशा के चक्रव्यूह में
आँख मिचौली खेलता
पथ पर चलता जाता। ०

राजेन्द्र कानूनगो

राजेन्द्र कानूनगो

जन्म	८ अगस्त १९५७, कलकत्ता
शिक्षा	बी० काम० (आनर्स) कलकत्ता विश्वविद्यालय
भाषा	राजस्थानी, हिन्दी, बंगला एवं अंग्रेजी
पेशा	नौकरी
अभिरुचि	मंच अभिनय , कविता, कहानी, लेख एवं नाट्य लेखन, चित्रकारी एवं फ़ोटोग्राफी
सम्पर्क	कमल कुंज, १५/२ सी, बेहला रोड कलकत्ता-७०००२७

सन्तुष्ट हुआ मं

सतुष्ट हुआ म
तुम्ह अजलि मं भर
अपनी आत्मा का अर्घ्य दकर
और तुम
अपने अविकल प्रवाह का
विस्तार देखी
तृप्त हुइ
मुझ देखकर । ०

किसे फुर्सत है

किसे फुर्सत है
कौन समझता है
सफेद कागज़ पर
तुम्हारी खीची हुइ
टेढी मेढी लकीर का अर्थ
तुम्हारे
अनकुरित शब्दो के मायन
आँखो के बार-बार
उठने और गिरने की भाषा ।

शायद
काइ नही
सभी व्यस्त हैं
अपने अपने घराने बनाने मं । ०

बापू

बापू !
अच्छा हुआ तुम मर गये
ज़िन्दा रहते तो रोज़ मरते

जब देखते
लोग भूल रहे हैं
तुम्हारा सिखाया पाठ
सत्य और अहिंसा के बदले
पनप रहा है मिथ्यावाद और हिंसा
अगर तुम ज़िन्दा रहते तो फ़र्क इतना ही पड़ता
कि देशभक्ति की शपथ
तुम्हारी समाधि के बदले
ली जाती तुम्हारे आश्रम में
रात दिन तुम व्यस्त रहते शपथ देने-दिलाने में।
सुबह की प्रार्थना से
रात में सोने तक
लोग शपथ लेते और चले जाते
खाली कर देते शपथों की झोली
अगली मोड़ पर लगे
कचरे के ढेर में

अच्छा हुआ तुम मर गये।
हाँ, अगर तुम ज़िन्दा रहते तो जरूर देखते

अपनी शांत, गम्भीर तस्वीर को—
झूलते हुए
प्रत्येक थाला अफसर की कुर्सी के पीछे,
देखते
टेबुल पर रखे
अपने तीन बन्दरों के संकेत—
कुछ कहो मत
कुछ सुनो मत
कुछ देखो मत
बस किये जाओ शासन ।

मगर अच्छा हुआ तुम मर गये
ज़िन्दा रहते तो रोज़ मरते
जब देखते
तुम्हारे नाम पर
लड़ रहे हैं लोग
देश की बजाय
प्रांतों के लिये—
जी रहे हैं
सिर्फ स्वयं के लिये ।

और अगर तुम ज़िन्दा रहते तो करते भी क्या
रोज़ किसी संस्था का उद्‌घाटन ?
फीता काटते काटते दम निकल जाता तुम्हारा

धन्यवाद उन तीन गोलियों को
जिन्होंने तुम्हें
यहाँ और रहने नहीं दिया
अच्छा हुआ तुम मर गये
ज़िन्दा रहते तो रोज़ मरते
बापू सच, बहुत अच्छा हुआ
कि—
तुम समय रहते ही मर गये । ०

अखबारों में मोटी सुर्खियों में छपा

अखबारों में मोटी सुर्खियों में छपा
'नेताजी का धूमधाम से स्वागत'
नीचे ही महीन अक्षरों में छपा था
'भूख से पचपन व्यक्ति मरे'
हम सबने पढ़ा
और अखबार पुराना हुआ
फिर या तो बेच आए
या
अलमारी की दराज में
कपड़ों के नीचे
बिछाने के काम में लाये ।

नेताजी का स्वागत तो याद रहा
भूख के कारण हुई मृत्यु
पड़ गई धुँधली
अजनबियों की मौत
होती है कितनी अजनबी । ०

गली की नुक्कड़ पर बैठे

गली की नुक्कड पर बैठे
बूढे रिक्शेवाले से मैंने पूछा
श्याम बाजार जाओगे ?

पहले वह खाँसा, कफ थूका
और फिर कराहते हुए
खडे होकर बोला
जरूर ले चलूँगा बाबूजी
चार रुपये लगेंगे।

मैंने उसकी हालत देखकर पूछा
इस दशा में रिक्शा खीच पाओगे ?

वह हलका सा मुस्कुराया और बोला
रिक्शा मैं कहाँ खीचता हूँ बाबूजी
मेरी भूख खीचती है
मैं तो महज रिक्शे का डण्डा पकडता हूँ।

रेल दुर्घटना में

रेल दुर्घटना में
मरे तीन सौ
अखबार में सरकारी बयान छपा
तीन मरे, पाँच घायल
और आठ की प्राथमिक चिकित्सा की गई।

कितनी सवेदनशील है
हमारे देश की सरकार
बढती हुई आबादी का
ढिंढोरा तो पीट सकती है
लेकिन दुर्घटना में मरे
व्यक्तियों की गिनती नहीं बता सकती
आखिर तीन सौ वोटों का जो सवाल है। ०

रीता मेहरोत्रा

रीता मेहरोत्रा

जन्म   १० अक्टूबर १९५६ कलकत्ता
शिक्षा   हिन्दी स्नातकोत्तर, कलकत्ता विश्वविद्यालय
सम्प्रति   सुमित्रानन्दन पन्त पर शोध कार्य।
सपर्कं   ३६, विवेकानन्द रोड कलकत्ता-७

बहुत दूर जाना है

'सुई की नोक की तरह
चुभा था कुछ
वह दर्द था या बात ?
किसी की मौत की तरह
खला था कुछ
वह चोट थी या कसक ?

पत्थरों से रिसते पानी की
आवाज़ में था कुछ
वह विश्वास था या आस ?

भोर की खुशनुमा ठंडक ने
कहा था कुछ
वह दिलासा थी या प्रेरणा ?

पक्षी की फड़फड़ाहट की तरह
धड़का था कुछ
वह छटपटाहट थी या मुक्ति ?

ये कभी शब्द थे
मेरी ज़िन्दगी के हिस्से
कह रहे थे कुछ किस्से
लेकिन—
मुझे तो अभी बहुत दूर जाना है। ०

झरते पत्ते

जीवन के हर सुख दुःख का हिसाब
पेड़ की छाँव तले लगाया था
आज देखती हूँ
अतीत के किस्सों से लिपटे
झरते पत्ते
सूखी हवा के इशारों से
इधर से उधर
धरती पर रगड़ खाते
हर राहगीर के पाँव तले
शिकार होते
नियति की मार से
खामोश,
किसी से कुछ न कहने का संकल्प लिये
धूल में लिपटे ये आवारा पत्ते । ०

कब तक डरते रहोगे ?

कब तक डरते रहोगे ?
खूनी पंजों से
कब तक डरते रहोगे ?
तेज नाखूनों की चुभन से
फट गई नसें
और रिसते खून को
खाली आँखों से
कब तक देखते रहोगे ?

शरीर जकड़े पंजों को
आखिर कब तक
यूँ ही बर्दाश्त करते रहोगे ?
बर्फ बने
कब तक रिसते रहोगे बूँद-बूँद ?
आखिर कब तक ? ०

प्रतीकों का प्रतीक

तंग गलियों से
एक वृद्ध—
तीन टाँगों पर घिसटता
धीरे-धीरे रास्ता नापता
गन्तव्य की दूरी को कम करता
चला आ रहा था—
वर्तमान युग की
आर्थिक अवस्था का प्रतीक,
दुर्दिन व दुरावस्था का द्योतक,
समाज की ठोकरों का जर्जर उदाहरण
आगत अनागत को
उत्सुक व भयभीत नेत्रों से निहारता
विगत को पृष्ठभूमि में छोड़ता
भोर के टिमटिमाते तारे की भाँति धूमिल
अब, अपने जीवन की दूरी को तय करता
विभिन्न प्रतीकों का प्रतीक। ०

चौरास्ते पर खड़ा लक्ष्य

देखती हूँ
संकल्प बौना हो गया है
और लक्ष्य चौरास्ते पर खड़ा
एक अदद आदमी को
व्याकुल आँखों से
खोज रहा है।

जबकि आदमी
अँधेरी, सड़ाँध भरी
घुमावदार गलियों में
भटक रहा है। ०

बदला नहीं मौसम

बदला नहीं मौसम
किसी भी दिशा में
सर्दी-गर्मी
वर्षा और बसन्त
बने नहीं मेहमान
पतझड़ की
सूखी टहनी सा खड़ा
रस गंध हीन जीवन
चुभता रहा
नुकीले काँटों सा,
अछूता रहा मन—
फूल की मुलायम
कोमल पंखुड़ियों के
स्पर्श से —
वंचित रहा तन,
चाँदनी रात में
बरसती ओस में भी
जड़ और निस्पन्द
बना जीवन
भीतर ही भीतर
धरती में समा गया। ०

नई सुबह की तलाश

नई सुबह की तलाश शुरू की थी
टिमटिमाते दीए को
हाथ में लिये,
नहीं मालूम था
जल जाऊँगी
दीए को बचाने के प्रयास में

लेकिन रुकी नहीं
संकल्प की यात्रा
एक के बाद एक
दुर्गम स्थानों को पार कर
बढते रहे चरण।

तभी देखा
अंधकार को चीरती
सुस्मित पूर्वी किरण
सुबह की खुशनुमा ठंडक
भीनी-भीनी गंध से भरी हवा में
दम-तोड़ते विश्वास को
नई चेतना, नई रोशनी से
भर गई। ०

सजय बिन्नाणी

सजय बिन्नाणी

पता	४२, पथरिया घाट स्ट्रीट,
	(प्रवेश मालापाड़ा)
	कलकत्ता-७००००६
आयु	१४ दिसम्बर १९६२, कलकत्ता
शिक्षा	स्नातक (बी ए) अन्तिम वर्ष ।
अभिरुचि	गायन, वादन, अभिनय, अध्ययन, लेखन, जन-सम्पर्क, भटकना, पत्रकारिता, फोटोग्राफी ।

कितना उल्लसित होता हूँ मै !

कितना उल्लसित होता हूँ
मैं,
जब मुझमें
तुम्हारे प्रकाश को झिलमिलाते
कोई
देख पाता है। ०

मैं इतना छोटा तो नहीं

मैं इतना छोटा तो नही
कि तुम्हें पा न सकूँ,
इतना कमज़ोर भी नहीं
कि साँस न ले सकूँ तुम्हारे बिना,
ऐसा विकलांग भी नहीं
कि ढूँढता ही रहूँ कोई सहारा,
मुझे एहसास है
भीतर छिपी अपनी संपूर्णता का
फिर भी
करूँगा—तो सिर्फ़ तुम्हारी ही प्रतीक्षा। ०

पिघल जाएगा

पिघल जाएगा तुम्हारा अह
जब मैं
स्वर साधकर
तुम्हारे भीतर का राग गाऊँगा । ०

जानती हो ?

जानती हो ।
मेरे भीतर से तुमने
अचानक एक प्रश्न पूछ लिया था
"अच्छा बोलो ना
मेरे बारे में तुम क्या सोचते हो,
क्या मानते हो तुम मुझे ।"

अवाक् सा मैं
तुम्हारे प्रश्न का उत्तर
भीतर ही भीतर तलाशने लगा
मैंने पाया
तुम्हारे अस्तित्व में दमकता
एक स्थायी भाव, अंतर का प्रदीप्त आलोक
जो मुझे एहसास दिलाता है
कि तुम मेरी हो ।

क्या हो—
अभिव्यक्ति के बाहर है
आज भी, अभी भी, कभी भी । ०

शाम

शाम
कुछ क्षणों के लिए छोड़ जाती है
मेरी जल-तरंग पर एक चमक
जो देर तक आंदोलित होती है
मुझमें
तुम्हारे नाम को ध्वनित करते हुए । ०

अशोक

अशोक !
तुम्हें कोई शोक क्यों होगा ?
तुम तो पूजे जाते हो,
सुन्दरियों का स्पर्श-सुख पाकर
झूम उठते हो, खिल जाते हो—
तभी तो दु खदायी हो जाते हो
विरही जनो के लिये ।
वे दर्द पीते हैं,
तुम निर्विकार खडे रहते हो
और यों
सच ही तुम
अशोक कहलाते हो ०

बच्चे ने पूछा

बच्चे ने पूछा
एक सवाल ।
अभिभावक-तिलमिलाया,
बोला तेरी यह मजाल
बच्चे का गाल
'चटाक्' से हुआ लाल,
फिर तो
उसकी अन्तरात्मा ने उठाये
सवाल पर सवाल । ०

तोता

बच्चे के जन्म के समय
पिता ने खरीदा
पिंजड़े में बन्द तोता।
बच्चे के साथ—

शिक्षित संस्कारित होता गया तोता,
सीताराम से लेकर
हाय मम्मी ! हाय डैड ! बोलना
सीख गया तोता।
बच्चे के साथ-साथ—बड़ा होता,
रूठना-मनाना, ज़िद् करना-गुस्सा करना
सीख गया तोता।

तरुण के साथ टहलने जाने लगा तोता,
दुनिया को देखने समझने लगा
और गलत सही को परखने लगा तोता,
अब बन्धन और आज़ादी का
फ़र्क़ समझने लगा तोता।

धीरे-धीरे
पंख फड़फड़ाने लगा तोता
एक दिन अचानक
उड़ चला तोता। ०

ज़िन्दगी

ज़िन्दगी ! तुम एक खूबसूरत विषकन्या हो
जिसके आलिंगन में बँधा हर कोई
ज़िन्दा लाश बन कर रह जाता है
यह जानते हुए भी मैं-तुम्हें
बेहद प्यार करता हूँ
क्योंकि तुमने मेरी यात्रा को नया मोड़ दिया है,
अपने होने का एहसास जगाया है
इसीलिये मैं-तुम्हें मर-मर कर पाना चाहता हूँ !

यह जानते हुए भी
कि तुम्हारे अधरों को छूते ही
मैं तुमसे दूर हो जाऊँगा,
म भारा बनकर
तुम्हारा अधर पराग पाना चाहता हूँ।

देखना चाहता हूँ
ऐसे में अपना अस्तित्व,
तुम्हें बार-बार पाने-अपनाने का प्रयास
मै तब तक करता रहूँगा—
जब तक
हम एक दूसरे के पर्याय न बन जायें ! ०

अणु-युग

हम अणु युग में जी रहे है,
आत्मीयता को ज़हर की तरह पी रहे हैं,
सवदना मृतप्राय हो चुकी है,
सिर्फ भूख है, जिसे जी रहे हैं। ०

स्वर समवेत

के

प्रकाशन

कविता संकलन

एक कथा	नवल
समय का राग	शंकर माहेश्वरी
आधी रात का शहर	नवल
कृष्णधर्मा मैं	प्रभा खेतान

संपादित

नवग्रह	डॉ० कृष्णबिहारी मिश्र
एक और पहचान	डॉ० प्रभा खेतान
संध्याओं के बीच	डॉ० नगेन्द्र चौरसिया
घर गृहस्थी में कविता	नीलम श्रीवास्तव
खेल खेल में	ध्रुवदेव मिश्र पाषाण
काव्यांजलि	छविनाथ मिश्र